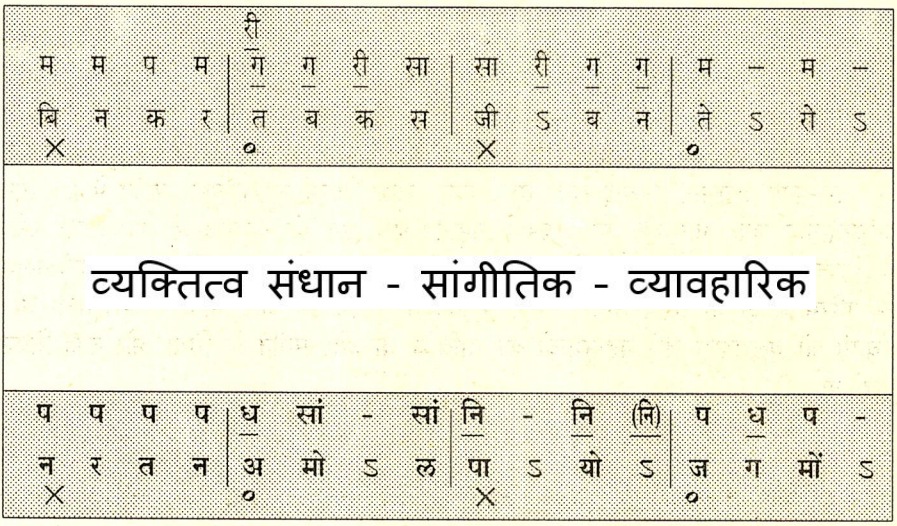

सर्वप्रथम मुझे अपने श्रद्धेय गुरुवर अण्णासाहब रातंजनकर के दर्शन करने का सौभाग्य मई १९३६ में मिला। इसका श्रेय मेरे बड़े भाई राम गिंडे, जो आगे चलकर विख्यात न्यूरोसर्जन हुए, को है। बंबई में वैद्यकीय विद्यालय में अध्ययन करने के साथ साथ संगीत-साधना में भी वे रस लेते थे। गायन में मेरा श्रीगणेश उन्होंने ही करवाया था। मैं अपनी छोटी उम्र में महाराष्ट्र की परिपाटी के अनुसार बालगंधर्व के नाटकों के पद गाया करता था; यहां तक कि छठी उम्र में मेरे भैया ने मेरा एक प्रकट कार्यक्रम भी करवाया था, जिसमें हारमोनियम उन्होंने बजाई थी और तबले पर मेरे मंझले भाई थे। ऐसा वह संगीत के प्रेम से भरापूरा काल था। मेरे डॉक्टर भैया की तमन्ना थी कि 'कृष्णा' (मेरा नाम) को किसी सर्वथा समर्थ गुरु की व्यक्तिगत तालीम का लाभ मिलना चाहिए, यही उसका क्षेत्र है, इसीमें वह अपने जीवन की सफलता पा सकेगा। फिर वे ऐसे गुरु की तलाश में रहने लगे। संयोगवश अपने परिचित कुछ डॉक्टर सज्जनों की बातचीत में कई बार उन्होंने भातखंडेजी के नाम का उल्लेख आत्यंतिक आदर के साथ होते हुए सुना। उन्होंने पं. भातखंडे से मिलना तय किया और कुछ कोशिश के बाद भातखंडेसाहब की पद्धति के अनुसार शाम को विल्यम कॉलेज के बगीचे के बेंच पर वे उनके दर्शन कर पाए। धीरे धीरे पंडितजी से उनका परिचय बढ़ा। भातखंडे जी ने उन्हें अपने ग्रंथ भेट में दे दिए। किंतु जब मुझे गायन सिखाने के संबंध में भैया ने बात छेड़ी तब उन्होंने अपनी मजबूरी बताते हुए सुझाव दिया कि आप मेरे शिष्य श्रीकृष्ण रातंजनकर से मिलिए। वह आपके काम आएंगे। वे छुट्टियों में लखनऊ से बंबई आया करते हैं, उन्हें मेरा नाम बताकर संपर्क कीजिए।

मेरे भाईसाहब ने निश्चय किया था कि इसे भातखंडे परंपरा में ही दीक्षित करना है। उन्होंने मुझे बैलहोंगल (जिला बेलगाम) से बुला लिया। (मैं उन दिनों अपने चाचा के यहां अन्य भाइयों समेत गदग के शिक्षालय में पढ़ता था और बैलहोंगल में गर्मियों की छुट्टियों में मातापिता के साथ रहता था ।) ७-८ साल की मेरी उम्र थी। उस काल रातंजनकर परिवार बंबई के

अंधेरी विभाग में स्टेशन के सामने एक ईसाई सज्जन के मकान में किराए पर रहता था। मेरे भाई अपने संगीतप्रेमी मित्र के साथ वहां पहुंचे। परिचय हुआ। कुछ ही अवधि में अण्णासाहब, उनके पिता आदि सबके साथ मेरे भाईसाहब की घनिष्ठता-सी हो गई। मुझे सिखाने के बारेमें जब भी बात निकलती तब अण्णासाहब ने भाई से कहा कि यह अभी छोटा है, थोडी उम्र बढ़ने दीजिए। उसके बाद भाईसाहब उनके साथ संपर्क बनाए ही रहे। १९३६ में अण्णासाहब ने कहा कि आप बहुत जिद कर रहे हैं, तो इस बार गर्मी की छुट्टियों में आप अपने भाई को बुलवा लीजिए। यहां हम अपने परिवार के साथ रहते हैं, तो हमारे साथ वह भी रहेगा और यदि परच जाएगा तो मैं उसे अपने साथ लखनऊ ले जाऊंगा। यदि उसका मन वहां नहीं लगा तो लौट आएगा।

इस प्रस्ताव के अनुसार हम अण्णासाहब के निवासस्थान पर गए। उन दिनों यह परिवार अंधेरी का मकान छोड़कर नाना चौक विभाग में किराए के मकान में रहता था। १९३४ में अण्णासाहब के पिताजी का देहांत हो चुका था। हम गए तब अण्णासाहब के ज्येष्ठ बंधु ने हमारा स्वागत किया। चंद समय में ही अण्णासाहब बाहर से आए। और आकर मेरे सामने बैठ गए। गुरुदेव से वह मेरी पहली ही भेंट थी। उनका पहला कटाक्ष मेरी तरफ रहा। उन्हें देखते ही न जाने क्यों, मुझे रोना आया। अब उसपर सोचता हूं तब महसूस होता है कि उस क्षण को उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से मैं द्रवित हो गया था। मेरे आंसू देखकर मुझे सांत्वना देते हुए वे बोले–"ठीक है। ठीक है।" फिर उनके घर की स्त्रियां मुझे अंदर ले गईं और मुझे समझा-बुझाकर शांत किया।

मैं बाहर आया तो अण्णासाहब ने कहा, "तुम्हें जो कुछ आता है, गाकर सुनाओ। मैंने दो नाट्यपद सुनाए, भाईसाहब ने रागदारी के दो-एक पद सिखाए थे, वे भी सुना दिए। उस दिन अण्णासाहब भी गाने के लिए बैठे। उन्होंने पूर्वी राग की 'मथुरा न जाओ कौन वहां है' यह चीज गाई थी। उसकी शक्ल ज्यों की त्यों आज भी मेरे स्मरण में ताजा है।

इस शुभारंभ के बाद मैं भाईसाहब के साथ दो-तीन दिन उनके होस्टेलपर रहा। हम रोज आते थे। शाम को गाना होता था। उसके बाद हम उस घर से इतने समरूप हुए कि चौथे दिन से मैं अण्णासाहब के घर पर ही रहने लगा। दूसरे दिन से ही मेरी तालीम शुरू हो गई थी। भैरव राग से। शुरू से ही मैंने अण्णासाहब के स्नेहल व्यक्तित्व का अनुभव पाया। उस परिवार के सभी सदस्य ऐसे ही थे। किसीने मुझे परायापन महसूस होने नहीं दिया। हां, एक बात यह हुई कि मेरा नाम 'कृष्ण' था अण्णासाहब का नाम श्रीकृष्ण था। घर की स्त्रियों को इसमें संकोच होने लगा; इसलिए मेरा नाम 'छोटू' रखा गया और आज बड़प्पन में भी मैं सब मित्रों के लिए 'छोटू' ही हूं।

स्वभाव-दर्शन

अण्णासाहब के साथ रहते हुए मुझे उनके स्वभाव की अनेक विशेषताओं ने प्रभावित किया। पहली बात जो मुझे महसूस हुई वह यह थी कि अण्णासाहब अत्यंत कोमल हृदय के व्यक्ति थे। उनका रहन सहन अत्यंत सादा था। ज्यादा 'सोशल' प्रकृति के आदमी नहीं थे। इसका कारण मैंने यों समझा कि उनके पिताजी सोलापुर जिले के बार्शी तालुकावाले अपने रातंजन गांव से रिश्ता तोड़कर आए थे। यह परिवार बंबई में अपरिचित ही था। केवल अण्णासाहब

के पिताजी उनके बंबई के रिश्तेदार थे। फलत: उनका कहीं आना-जाना नहीं के बराबर रहता था। शुरू से वातावरण ही ऐसा था। और जब अण्णासाहब छोटे थे तब स्वयं नारायणराव ही अपने बच्चों को घर पर ही पढ़ाया करते थे। इस प्रकार घर में ही पिताजी के साथ रहते हुए शिक्षा पाने से, इनका बाहरी दुनिया से कोई संबंध नहीं रहा। और अल्पायु में ही रोज स्कूल से छुट्टी हो जाने पर तुरंत पिताजी उनका संगीत-अभ्यास शुरू करा देते थे। तो सारा समय एक ही दिशा में लगने की वजह से अण्णासाहब को अपने तईं सामाजिक संबंध विकसित करनेका मौका नहीं मिला। इस वजह से हुआ यह कि अपना काम करते रहना और स्वयं किसी वजह से लोगों में जाकर दखल देना और मेलमिलाप रखना जैसे काम उनसे नहीं बन सके। इन सब बातों के फलस्वरूप संपर्क में आनेवाले किसी दूसरे का स्वभाव मिलनसार और खुला होनेपर भी इनका रवैया वैसा नहीं रह पाता था। किसी आदमी को ठीक से पहचानने में उन्हें कुछ विलंब लगता था।

अण्णासाहब निरंतर अपने काम में मशगूल रहते तो कुछ अनुचित, अन्याय्य आरोप के लहजे में किसीने उनसे बात की तो वे तुरंत क्रुद्ध हो उठते थे। किंतु दूसरे ही क्षण वे अपनेको संभाल भी लेते थे। शीघ्र ही उनका अपनापन जाग उठता। संक्षेप में कहें तो उनका स्वभाव कटहल जैसा था। ऊपर से बहुत खुरदरे और कठोर किंतु भीतर से नितांत कोमल और मधुर। कोई विद्यार्थी गरजमंद है या किसीके साधन मर्यादित हैं, ऐसा पाने पर वे अपने पास जो कुछ है उसे उसको दे देने के लिए तत्पर रहते थे। कुछ आगा-पीछा नहीं सोचते थे।

वैसे देखा जाए तो संगीत के विषय में प्रामाणिक जिज्ञासा लेकर कोई उनके पास उपस्थित होता तो वे समय निकालकर उसे समझाने में तत्पर रहते थे। जान-पहचान न होने पर भी। दूसरी बात यह है कि वे अपने कार्य में इतने व्यस्त रहते थे कि उनको 'सोशल विजिट' करने के लिए फुरसत ही नहीं मिलती थी। फिर भी संगीत के मामले में ज्ञान और कला से संबंधित विषय हों तो ऐसे व्यक्तियों के साथ उनकी हमेशा मित्रता हो जाती थी। मैंने प्रो. बी.आर. देवधरजी का उदाहरण बताया ही है। हमारे कुमार गंधर्व तो अपने निश्छल सांगीतिक व्यक्तित्व के कारण उनके बहुत नजदीक आ गए। आखिर तक कुमारजी उन्हें अपना मानस गुरु मानते थे। ऐसे कई कलाकारों के साथ अण्णासाहब के व्यक्तिगत स्नेह की झलक मैंने कई बार पाई है। मैं बंगाली विद्वान, इंग्लिश के प्रोफेसर धूर्जटीप्रशाद मुखर्जी का उदाहरण बताता हूं। उन्होंने अपने संस्मरणों की एक पुस्तक लिखी है जिसमें वे कहते हैं– "To hear shrikrishna I will run miles...." इसमें भाव यह है कि बड़े बड़े उस्तादों को मैंने सुना है लेकिन मैं रातंजनकरजी का गाना सुनने के लिए, कहीं से भी दौड़कर आ जाऊंगा।

मिलने-जुलने का स्वभाव न होनेपर भी उनकी कुछ थोड़ी मित्रमंडली जरूर थी। किंतु बिलकुल चुने हुए लोगों का अंतर्भाव उसमें था। लखनऊ में मैंने देखा कि वहां महाराष्ट्रीय सज्जनों का 'नवग्रह' नामक एक मंडल था। उसके साथ अण्णासाहब जुड़े हुए थे। इस मंडल में प्रसिद्ध गायिका श्रीमती पद्मावती शालीग्राम के ससुर श्री गोखले, लोकमान्य तिलक के जामात श्री साने, बॉटनी के प्रोफेसर नागपुर के श्री भाके, कमिशनर श्री चंद्रकांत गोड़से आदि उन मित्रों में थे। संगीत का सूत्र इन सबको एक साथ बांधे हुए था। इसके साथ हिंदी साहित्यकारों से भी अण्णासाहब का मिलना काफी होता था। उनमें सर्वश्री सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' भगवतीचरण वर्मा तथा श्रीमती महादेवी वर्मा आदि साहित्यकार थे। निराला तो

कॉलेज अक्सर आया करते थे, उन्हें संगीत में विशेष रुचि और गति थी। इन सज्जनों के अलावा प्रसिद्ध शिल्पवेत्ता श्री असितकुमार हलधर, जो लखनऊ आर्टस् स्कूल के निदेशक थे, इंजिनियरिंग के प्रोफेसर सिद्धांत, भारत के विद्यमान राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा (जो उस समय लखनऊ युनिवर्सिटी में थे) इन सबके साथ अण्णासाहब का मेलजोल था।

उच्चशिक्षित होने का लाभ

अण्णासाहब उस जमाने के ग्रॅजुएट रहे। इसका उनके व्यक्तित्वपर जो असर हुआ था, वह उनके व्यवहार में से झलकता होगा। अण्णासाहब की वह एक बड़ी उपलब्धि रही। पं. भातखंडेजी के शिष्य होने के कारण उच्च शिक्षा के प्रति उनके मन में पहले से ही आकर्षण था। और उनका बी.ए. तक पढ़ना उनके गुरुवर के उसूलों के अनुसार ही था। उस कालखंड में भारत में जो मान्यवर गायक थे उनमें सबसे पहले ग्रेज्युएट अण्णासाहब ही रहे। प्रो. बी.आर. देवधर उनके बाद बी.ए. हुए। बी.ए. की उपाधि धारण करने का लाभ प्रो. देवधर जी को मिला, संगीत के क्षेत्र में उनका एक विशेष स्थान रहा। वही बात अण्णासाहब के बारे में भी अनेक बातों में उजागर हुई। एक तो यह कि अण्णासाहब में अंग्रेजी साहित्य के प्रति रुचि, जागृत हुई और उसीके दौरान मराठी और हिंदी साहित्य की ओर भी वे उन्मुख हुए। अपनी व्यस्तताओं में से समय निकालकर वे साहित्य-पठन भी किया करते थे। उच्चशिक्षित रहने के कारण उनके व्यक्तित्व में एक विशेष गरिमा और आत्मविश्वास भी विकसित हुआ। प्रशासनिक कार्यो में पत्राचार आदि के सिलसिले में अंग्रेजी भाषा पर प्रभुत्व रहना उनके लिए काफी लाभकर हुआ। मैंने बताया है कि शेक्सपियर के कई नाटक उनके कंठस्थ थे। मैं जब लखनऊ में स्कूली शिक्षा पा रहा था तब मिल्टन, वर्डस्वर्थ आदि की कविताएं, शेक्सपिअर का नाटक आदि उन्होंने मुझे पढ़ाया था।

अंग्रेजी साहित्य के साथ ही उर्दू शायरी में भी उन्हें दिलचस्पी थी। लखनऊ तो शायरों का शहर है। अण्णासाहब शायरी में खूब रमते थे। इसके सिवा हिंदी की व्रजबोली को भी उन्होंने काफी आत्मसात् किया था, जिसका उपयोग उन्हें बंदिशों की रचना में बखूबी हो सका।

अण्णासाहब हिंदुस्थानी संगीत के तो महापंडित थे ही; कर्नाटक संगीत की तरफ भी उन्होंने काफी ध्यान दिया था। कर्नाटक संगीत का स्वरूप और उसकी बारीकियों का उन्होंने मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। इसके फलस्वरूप वे हिंदुस्थानी और कर्नाटक शैली के समन्वय से कुछ नए रागों का भी निर्माण कर सके, जिसके संबंध में हम उनके रचनाकार पक्ष पर बात करते समय अधिक विस्तार से देखेंगे। कर्नाटक संगीत की मर्मज्ञता के कारण दक्षिण में उनका बहुत मान था। कर्नाटक संगीत के उस समय के श्रेष्ठ विद्वान टायगर वर्धराचार्य से लेकर अराइकुड़ी रामानुज अय्यंगार तक सभी, इतना ही नहीं तो दक्षिण की एक संस्था 'मद्रास म्युजिक अकेड़ेमी' ने उनको मानपत्र भी दिया था। जिसमें उल्लेख था- "Best musician and musicologist of the North." कर्नाटक संगीत के प्रोफेसर और मद्रास म्यूजिक अकेड़ेमी के संगीत के प्रोफेसर डॉ. वी. राघवन जी के नाम से चलाए गए प्रथम "Endowment Lecture" देने का सम्मान अण्णासाहब को ही मिला था।

यह तो स्वाभाविक ही है कि उत्तर भारत में रहने के कारण ग्वालियर के श्रेष्ठ मराठी कवि भास्कररराव तांबे का उनसे घनिष्ठ परिचय था। कविराज तो अण्णासाहब के गायन के अत्यंत

प्रेमी थे। और आप तो जानते हैं कि तांबे जी स्वयं गाना बहुत अच्छा जानते थे। यही नहीं आप अण्णासाहब की एक महफिल से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने एक कविता भी लिखी थी, जो उनके काव्यसंग्रह में प्रकाशित है और १९६० में अण्णासाहब के अभिनंदन में प्रकाशित स्मारिका में भी छपी है। महराष्ट्र के इस तरफ के जो कवि थे उनसे उनका ज्यादा संपर्क नहीं हो सका, लेकिन जो कवि इंदौर और आगे के प्रदेश में बसे थे उनसे उनका परिचय था।

भाषा-प्रभुत्व

डॉ. अण्णासाहब की अभिरुचि संगीत के साथ साथ साहित्य में भी रहने का लाभ संगीत की दृष्टि से यह हुआ कि उन्होंने ७५० तक बंदिशों की जो रचना की है, उसमें उनकी साहित्यिक अभिरुचि और व्यापक ज्ञान का उपयोग उन्हें भलीभांति हो सका। किंतु उसके विषय में हम आगे विवेचन करेंगे। यहां पर उनकी अध्ययनशीलता का प्रमाण बननेवाली एक घटना का बयान करना है।

लखनऊ में महाराष्ट्रीय समाज की तरफ से लोकमान्य तिलक जन्मशती के अवसरपर सन १९६० में एक संगीत का आयोजन करने की कल्पना सामने आई। डॉ. केसकर इस समारोह के अध्यक्ष थे। उस समय अण्णासाहब ने व्रज भाषा में एक गेय नाटक लिखा था, जिसमें सब संभाषण गेय पद्य में थे। किंतु अपनी काव्यरचना में भाषा की कोई भूल न रहे इस हेतु अण्णासाहब ने हस्तलिपि हिंदी के कविश्रेष्ठ सुमित्रानंदन पंत के पास भेजी थी, जो उन दिनों आकाशवाणी के प्रधान साहित्यिक निर्माता (प्रोड्यूसर) थे। तब कविवर पंत जी ने उसपर जो अभिप्राय दिया वह तारीफ के काबिल है। एक तो हस्तलिपि पर एक भी लाल निशान नहीं था। उलटे उन्होंने कहा था - "मैं शत शत प्रणाम करता हूं, महाराष्ट्रीय होते हुए भी व्रज भाषा पर इतना प्रभुत्व है! इस काव्य में कहीं पर किसी सुधार की गुंजाइश ही नहीं है।" इस प्रमाणपत्र से अण्णासाहब के व्रजभाषाप्रभुत्व का सबूत मिलता है। अण्णासाहब ने सूरदास, अष्टछाप के अन्य कवि तथा वैष्णव संप्रदाय के अन्य प्रधान कवियों का काव्य मन लगाकर पढ़ा था। इसलिए वे उस भाषा की प्रकृति को भली प्रकार समझ पाए थे। व्रजभाषा के साथ ही खड़ी बोली में भी उन्होंने 'झांसी की रानी' संगीतिका ('ऑपेरा') लिखी थी। हम सब शिष्यों ने उसके मंचन में भाग लिया था।

इन कार्यक्रमों के अतिरिक्त अण्णासाहब ने संस्कृत भाषा में 'शिवमंगलम्' नामक काव्य लिखा जो उनकी रचनात्मक प्रतिभा का सबसे प्रशंसनीय प्रमाण है। यह समूची रचना उनकी नहीं थी; वह कालिदास के 'कुमारसंभवम्' पर आधारित थी। जहां जहां आवश्यकता पड़ी वहां अण्णासाहब ने जोड़ देने के लिए स्वरचित श्लोक लिखे थे। यह आयोजन महाकवि कालिदास की पंच जन्मशती के अवसर पर उनकी कर्मभूमि उज्जैन में आयोजित हुआ था। समारोह की अध्यक्षता राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्रप्रसाद ने की थी। उस काल विद्यमान राष्ट्रपति आदरणीय डॉ. शंकरदयाल शर्मा मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री थे। सब गण्यमान्य अतिथियों ने कार्यक्रम की बड़ी सराहना की। उस समय संस्कृत के मर्मज्ञ अतिथियों ने यहां तक कहा कि रातंजनकरजी की संस्कृत रचना इतनी साधु है कि कालिदास की रचनाओं की श्रेणी में वह भलीभांति शोभायमान हुई है। इन सराहनेवालों में संस्कृत भाषा के प्रथम श्रेणी प्राप्त अध्येता डॉ. राजेंद्रप्रसाद भी थे। इसी

ढंग पर अण्णासाहब ने और तीन नाटक भी लिखे थे, किंतु आज उनके संबंध में कुछ अधिक बताया नहीं जा सकता।

संगीतेतर पहलू

हम अण्णासाहब के कुछ संगीतेतर पहलुओं की झलक देख रहे हैं। तो इस सिलसिले में यह जानना भी आवश्यक है कि अपने घर-परिवार से बिछुड़कर पैंतीस वर्ष तक दूर प्रदेश में रहते हुए अण्णासाहब अपना फुरसत का समय किस तरह बिताते थे? उनकी खान-पानविषयक आदतें क्या थीं? उनके और और शौक क्या थे? इन सब बातों का एक शब्द में उत्तर यह है कि अण्णासाहब अपने प्रशासनिक, शैक्षणिक और सांगीतिक कार्य में ही इतने निमग्न रहते थे कि उन्हें फुरसत का समय यदा-कदा ही मिल पाता था। आइए, उनकी दिनचर्या पर ही नजर डाले। सवेरे साढ़े सात तक जागना। फिर आठ से बारह तक पोस्ट ग्रेजुएट कक्षाओं को पढ़ाना। दोपहर को विश्राम। तीन से आठ तक महाविद्यालय के समयचक्र के अनुसार अध्यापन, प्रशासन आदि। रात आठ के बाद पत्राचार आदि में लग जाना। फिर नौ बजे तक भट, जोग, मैं, दिनकर आदि उनके आसपास जमा होते थे तो बारह एक तक गाना बजाना चलता। उसके बाद अण्णासाहब अपने व्यक्तिगत वाचन में लग जाते और दो-ढ़ाई बजे आपके सोने का समय आ जाता।

इन समस्त व्यस्तताओं के बावजूद अण्णासाहब के व्यक्तित्व में कुछ न कुछ विशेषताएं अवश्य परिलक्षित होती थीं। कपड़ों की दृष्टि से देखें तो वे एकदम सादगी-पसंद व्यक्ति थे। प्राचार्य के नाते साधारण-से सूट में रहते थे। कभी कभी बुश शर्ट-पैंट और आम तौर पर कुर्ता पाजामा यही उनका वेष रहता था। एकाध बार शौकिया तौर पर बंगाली भेष या साफा-पगड़ी वगैरह हो जाता, किंतु वह सब अपवाद के रूप में माना जाए। खान-पान के लिहाज से देखें तो आपको मिताहारी ही कहना होगा। मीठे की अपेक्षा तीखे को पसंद करते थे और सामिष आहार को विशेष तौर पर, उसमें भी मछली के लिए अधिक चाह थी। किंतु खाने के बारे में नियमितता से काम लेने की आदत नहीं थी। दस बजे बना खाना एक बजे भी खाएंगे। पहले काम और संगीत में दखल देंगे। हां, जब छुट्टियों में बंबई आते तब बड़े भैया आदि के सामने सब कुछ समयानुसार चलता।

स्वास्थ्य के लिहाज से देखा जाए तो वे पहले से ही कमजोर रहे। शुरू में जिक्र हो चुका है कि उनकी माताजी का स्वास्थ्य बहुत दुर्बल था और उसीका परिणाम उनपर हुआ था। लखनऊ में बराबर गैस (gas) की बीमारी से परेशान रहते थे। फिर भी अपनी तंदुरुस्ती को ठीकठाक करने की ओर उनका ध्यान बिलकुल नहीं रहता था। यों उन्हें पीने वगैरह की या अन्य कोई आदत बिलकुल नहीं थी; हां, तमाखू का सेवन काफी मात्रा में होता था। किंतु वह भी चस्के के रूप में नहीं होता था। हुआ यह था कि बचपन में उनको मिरगी के दौर आते रहते थे। किसी हितैषी ने उन्हें सलाह दी थी कि तुम तमाखू खाना शुरू करो। उन्होंने वैसा किया तो उनकी वह पीड़ा दूर हो गई। तब से तमाखू की जो आदत लग गई वह हल्के चस्के के रूप में आगे भी रही।

स्वावलंबन अण्णासाहब की लक्षणीय विशेषता थी। अपने कपड़े स्वयं धोया करते। (बूट पालिश भी स्वयं ही करते और) अपने पत्र वगैरह स्वयं ही लिखते। आगे आगे उनका हाथ

कांपने लग गया तब 'टाइपिंग' करने लगे किंतु स्वावलंबन को नहीं छोड़ा। इतने शिष्य आठों पहर आस पास रहते थे किंतु किसीकी कोई सेवा नाम के वास्ते भी अण्णासाहब ने नहीं ली। इसका अधिक बयान आगे करेंगे। यहां उनकी शिष्टरीति या तहजीब की बात बताता हूं। कभी उन्होंने किसीको 'अरे' कहकर संबोधित नहीं किया। पं. एस्. सी. आर. भट को भी 'भटसाहब' कहकर पुकारते। अपरिचित व्यक्ति को, उसका सामाजिक स्तर कैसा भी हो, वे 'आप' कहकर संबोधित करते थे।

अण्णासाहब की वक्तृत्व में उतनी रुचि नहीं थी। शायद गंभीर विचारों को सूत्रमय रीति से प्रस्तुत करते समय भाषा और विचार के बीच जो तात्कालिक तालमेल बैठना आवश्यक होता है उसकी उनमें कमी थी। परंतु लिखते समय उनकी सारी शक्तियाँ जैसे जागृत हो उठतीं। हमेशा उनका हरित स्याहीवाला 'पेन' कागज पर दौड़ता रहता था। कहीं खाली बैठे हों तो तुरंत कागज निकालकर कोई बंदिश, स्वरलिपि, नोटस् इत्यादि लिखते रहते थे। और लिखने के लिए हरे रंग की स्याही उन्हें बहुत पसंद रहती थी, मानो उनके लेखन की औरों के लिए वह एक खास निशानी थी।

उनका खास आकर्षण था रेल-यात्रा! और संयोग भी ऐसा हुआ था कि संगीत की सभाओं, परीक्षाओं तथा आकाशवाणी के ऑडिशन आदि के सिलसिले में उन्हें अंधाधुंध यात्रा करने के अवसर मिला करते थे। अपने फर्स्ट क्लास के 'कंपार्टमेंट' में वे निहायत प्रकृतिस्थ और प्रसन्न रहते थे। कागज कलम, चाय बनाने के लिए स्पिरिट का 'स्टोव' आदि सब सज्जा के साथ उनकी यात्रा बड़े इत्मीनान से चलती। प्रेक्षणीय स्थलों और प्रकृति-सौंदर्य का आस्वादन भी उन्हें बहुत प्रिय था और उनकी यह ख्वाहिश यात्राओं के दौरान पूरी हो जाती थी। उनका एक और शौक था चित्रपट देखना। जब समय मिलता तब चित्रपट देखने जाया करते। यहां तक कि रेल में यात्रा को बीच में खंडित हो जाना पड़ता तब प्रतीक्षालय में असबाब रखकर एकाध चित्रपट देखकर आते! पढ़ने का शौक तो उन्हें विरासत में ही मिला था - पिताजी से और पंडितजी से। उर्दू और बंगला भाषा भी पढ़ सकते थे। एक तरफ संगीत और साहित्य के उच्चस्तरीय ग्रंथों को पढ़ते तो दूसरी तरफ 'चंदामामा' को भी शगल के तौर पर पढ़ने में रस लेते! अण्णासाहब कविता और शेरोशायरी पर भी रीझनेवाले कद्रदान थे और प्रकृतिसौंदर्य के वैभव को देखकर कभी कभी उनके मन में कोई कविता भी जाग उठती! .....ऊपर से नीरस और खुरदरे लगनेवाले इस व्यक्तित्व की गहराई में जजबातों का ऐसा झरना बहता था! और इसीका तो प्रतिचित्र उनकी खूबसूरत बंदिशों में उभर आता!

जिन्होंने अण्णासाहब के साथ नैकट्य प्राप्त किया हो उन्हें यह भी अनुभव हुए बिना नहीं रहता था कि जब वे अपनी बाहरी परत को हटाकर सामने आते तब उनके अंदर छिपे हुए परिहासपटु और हाजिरजवाब ठठोलिया के दर्शन भी हो जाते थे। और भावुक भी कम नहीं थे। किंतु आम आदमियों की तरह अपने इन सभी जिंदादिली के पहलुओं का ढिंढ़ोरा पीटने की आदत उनमें नहीं थी। मेरा ही एक व्यक्तिगत अनुभव बताता हूं। १९४८ में मेरे पिताजी का स्वर्गवास हुआ, तब खास तौर से हम सब घर पर मिलकर सांत्वना देने के लिए गुरुपर लंबा सफर करके मेरे गांव बैलहोंगल (कर्नाटक) पधारे थे! और मेरी माताजी को उन्होंने सांत्वना दी थी।

अण्णासाहब के एक दूसरे शौक के बारे में भी बताना होगा। उन्हें पक्षियों और कुत्ता-बंदर

जैसे मूक प्राणियों के लिए विशेष आकर्षण था। पक्षियों के लिए उनके मन में जो प्यार और आकर्षण था उसके दर्शन उनकी एक खास कृतिद्वारा अनोखे रूप में हो जाते थे। लखनऊ में 'नक्खास' नाम से एक उपविभाग है। वहां हर इतवार के बाजार में उन दिनों पालने के हेतु प्यारे प्यारे पंछियों को बेचनेवालों की भीड़ रहती थी। इन पंछियों को बड़े पिंजड़े में बंद करके ग्राहकों को एक-एक, दो-दो के हिसाब से बेच दिया जाता था। अण्णासाहब फुरसत मिलने पर अक्सर उस विभाग में घूमने जाया करते और कुछ पंछियों को जरूर खरीदते। लेकिन खरीदकर घर नहीं ले आते; उन्हें वहीं का वहीं आसमान में उड़ा कर बंधन से मुक्त कर देते थे। क्या उनकी इस कृति पर अलग से कोई टिप्पणी की आवश्यकता है? अण्णासाहब ने अपने निवासस्थान पर कुत्ता और बंदर पाले थे। उन्हें घूमने के लिए खुली छूट रहती थी और जब जब थोड़ा समय मिलता वे इन प्राणियों से थोड़ा मजाक भी कर लिया करते और उनकी लीलाओं को देखकर अपना रंजन कर लेते।

यह भी बताना आवश्यक है कि ईश्वर के लिए उनके मन में श्रद्धा थी किंतु अंधश्रद्धा, पूजापाठ का अतिरेक आदि की पकड़ में वे कभी नहीं आए। संगीत-साधना और नियत कर्म ही उनके लिए ईश्वर था। संगीताचार्य अण्णासाहब के व्यक्तित्व का यह संगीतेतर हुलिया जितना रोचक है, उतना ही उनके व्यक्तित्व के सांगीतिक पक्ष को पुष्टि प्रदान करनेवाला है!

अनेक संबोधन

डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातंजनकर अपने सभी शिष्यों के लिए 'अण्णासाहब' ही थे। यद्यपि उनके गुरु पं. भातखंडे भी महाराष्ट्र में 'अण्णासाहब' ही कहलाते थे, तथापि हम सभी शिष्य मंडली के लिए पं. रातंजनकर 'अण्णासाहब' ही बन गए। इस नाम की पृष्ठभूमि यह रही कि जब मैं बचपन में गुरुवर के घर रहने गया, तब देखा कि घर के छोटे भाई-बहन इन्हें 'अण्णा' कहकर पुकारते हैं। यह संबोधन महाराष्ट्र और कर्नाटक में आदर दिखाने के लिए बहुप्रचलित है। तो मैंने भी इसी नाम से गुरुवर को संबोधित करना आरंभ किया। आगे लखनऊ जाने के बाद यही सिलसिला जारी रहा और आगे चलकर सभी शिष्यों में यही नाम चलता रहा। इस 'विशेष' नाम के सिवा और और परिवेश में गुरुवर को अन्यान्य नामों से संबोधित किया जाता रहा और ध्यान से देखने पर यह प्रतीत होगा कि प्रत्येक अलग संबोधन के पीछे अण्णासाहब और उस व्यक्ति के बीच होनेवाला कोई भावनिक संबंध है। उदाहरणार्थ, बचपन से लेकर अण्णासाहब को उनके माता-पिता 'बिट्टू' के नाम से पुकारते, जो एक तरह से स्वाभाविक था। पं. भातखंडे उन्हें 'बाबू' कहा करते जिसमें प्यार, स्नेह, निकटता का भाव अभिव्यक्त होता था। पं. वाड़ीलाल शिवराम तथा अन्य गुजराती स्नेही उन्हें गुजराती ढंग पर 'बाबूभाई' कहा करते, जिसमें बंधुभाव का संकेत मिलता था, तो पं. राजाभैया पूछवाले उन्हें 'बाबूराव' कहकर संबोधित करते, जिसमें निकटता के साथ आदर भी ध्वनित होता था। दूसरी ओर उस्ताद फैयाजखां और राय उमानाथ बली अण्णासाहब को 'श्रीकृष्णा' कहकर उनपर होनेवाला अपने बुजुर्गाना अधिकार का संकेत दे देते। इसीके साथ समाज के अन्यान्य स्तरों में 'पंडितजी', 'डाक्टरसाहब', 'प्रिन्सिपल साहब' इत्यादि परिचयात्मक विशेषण भी चलते ही रहते थे। संबोधनों के इस इंद्रधनुषी विविधता की मनोवैज्ञानिक भूमिका भी अण्णासाहब के व्यक्तित्व के संधान में एक तरह से सहायक ही हो गई! अस्तु। इस संगीतेतर पहलू को किनारे रखकर

रखकर अब हमें अण्णासाहब के सांगीतिक व्यक्तित्व की ओर उन्मुख होना चाहिए।

गायकी का स्वरूप

अण्णासाहब की गायकी के जो दर्शन मुझे हुए हैं और मेरे कंठ पर उनकी गायकी का जो असर हुआ है उसके अनुसार सूत्ररूप में यह कहना चाहूंगा कि उनकी गायकी को हम त्रिवेणी संगम या चार स्रोतों का संगम कह सकते हैं। इस बात को समझने के लिए हमें उनकी संगीत-साधना की यात्रा पर नजर दौड़ानी होगी। शुरू में उन्हें श्री कृष्ण भट्ट होनावरजी से तालीम मिली, जो पटियाला शैली के गायक थे। अत: अण्णासाहब के संस्कारों का आरंभ पतियाला शैली के उलट फेरवाले पलटों को घोखने से हुई। उसके बाद उन्हें पं. अनंत मनोहर जोशी ने सिखाया। वे ग्वालियर गायकी के पंडित थे। यह उनकी गायकी का दूसरा प्रवास था। इसके उपरांत पं. भातखंडेजी के शिष्यत्व में रहने का सौभाग्य उन्हें मिला। उसके दौरान उस जमाने की जयपुर परंपरा के (जो वर्तमान जयपुर घराने से भिन्न है) मनरंग घराने की गायकी के संस्कार उनपर हुए। इसके बाद अंतिम दौर में रंगीले घराने के फैयाजखांसाहब की सन्निधि में रहकर पांच वर्षतक आपने भरपूर तालीम पाई। ध्यान रहे कि उस समय वह फैयाजखांसाहब की अंतिम अवस्था की गायकी नहीं, बल्कि उनकी जवानी की गायकी थी जिसको निकटता से ग्रहण करने का सुवर्ण अवसर अण्णासाहब को मिला था। मेरी इस बात पर गौर कीजिए। आज भी खांसाहब की 'गरवा मैं सन लागी' और 'फुलवन की गेंद मैका न मारो।' ये दो अलग अलग काल के रिकार्ड सुने जाएं तो मेरी बात समझ में आ सकती है। तो कहने का मतलब यह कि अण्णासाहब की गायन-शैली में उपर्युक्त चारों रंग एक दूसरे के साथ अच्छी तरह मिलकर एक हो गए थे।

अण्णासाहब की गायन-शैली की एक लक्षणीय विशेषता यह थी कि उनके गायन को सुनते समय यही प्रतीत होता था कि इसकी कोई ठोस शक्ल बना लेना कठिन है। उनका गाना इस दृष्टि से सुनिश्चित अनुमान के परे (unpredictable) था। एक क्षण बाद वे कौन-सी उपज लेंगे, इसका अंदाजा बांधना कठिन रहता था। बड़े-बड़े कलाकारों को उस जमाने में कहते हुए मैंने सुना है कि रातंजनकरजी रागों के बगीचे लगाते हैं। वे कहते थे- "जहां सुर, शब्द और लय दास हैं, वहां और क्या चाहिए!"

अण्णासाहब के पास रागों का भंडार था। मैं दावे के साथ कहूंगा कि बड़े बड़े उस्ताद होते हैं, उनके सीखे हुए दो राग रहते हैं, किंतु सुने हुए बीस। बड़े बड़े गायकों की यही स्थिति रही है। गायनाचार्य बालकृष्णबुवा इचलकरंजीकर को ६०-७० राग याद होंगे, लेकिन महफिल में वे उनमें से चंद राग ही गाये थे। फैयाजखां जो इस शतक के गायक समझे जाते थे (Musician of the century), उन्होंने भी २५-३० रागों से आगे गाया नहीं। लेकिन डॉ.रातंजनकर एक ऐसे गायक थे जो कि २५०-३०० राग यों पेश करते थे मानो उन्हें उसकी पूरी तालीम मिली हो। व्यापक तालीम पाए हुए गायक वे थे। बेलगांव के विख्यात हारमोनियम-वादक विठ्ठलराव कोरगांवकरने मुझसे कहा था कि यमन से लक्ष्मी तोड़ी तक सभी रागों को समान अधिकार से प्रस्तुत कर सकनेवाला एक ही गवैया मैंने देखा- पं. रातंजनकर। इस दृष्टि से उन्हें हम गायकों के गायक कह सकते हैं। मैंने यह बराबर अनुभव किया है कि उनका गायन सुननेवालों में ४० प्रतिशत श्रोता गायक ही रहा करते थे। वे सोचते थे कि आज कुछ नया सुनने को

मिलेगा, कुछ नई सामग्री सामने आएगी। और जब अण्णासाहब ऐसे उत्सुक श्रोताओं को देखते तब उनका भी उत्साह बढ़ता और दाद पर दाद के साथ महफिल सज उठती।

बहुत से लोगों का कहना है कि डॉ. रातंजनकरजी को महफिली कलाकार के रूप में अभूतपूर्व लोकप्रियता हासिल नहीं हो सकी। यह एक गंभीर प्रश्न है। इसपर समझ-बूझ के साथ सोचना आवश्यक है। लोकप्रियता एक ऐसी चीज है कि उसको संपूर्णत: हासिल करने के लिए आपको अपना मूल्य घटाना ही पड़ता है। वहां लोकरुचि के तंत्र और मंत्र को अमल में लाना लाजिमी हो जाता है। आपका कर्तव्य है कि आप लोकरुचि को ही उचित रूप में ढालें, उसका उन्नयन करें। आप बना भी सकते हैं और बिगाड़ भी सकते हैं। यदि आप कला के प्रति सच्चे होंगे तो लोग आपको सुनते सुनते सच्ची कला के कायल होने लगेंगे। यदि आप उन्हें हल्का-हल्का ही देने लगेंगे तो वजनदार चीज उन्हें अरुचिकर लगेगी।

अब इसे कुछ लोग समय का दोष कहेंगे; किंतु मैं इसे मानने को तैयार नहीं। दुर्भाग्यवश आज अनेक कलाकार ख्याल को ठुमरी बनाकर प्रस्तुत कर रहे हैं। क्या वे लोग नहीं जानते कि ख्याल वास्तव में क्या है? वे ऐसा क्यों नहीं सोचते कि हम कला के मूल्यों को सुरक्षित ही रखेंगे, उसे बिगाड़ेंगे नहीं; भले ही सुननेवाले श्रोता दो-चार ही मिल जाएं। पुराने जमाने में यही दस्तूर था। इसीलिए कुछ गवैये लोकप्रिय हुए तो कुछ नहीं हो सके। फैयाजखांसाहब का भारतभर में नाम था, लेकिन अल्लादियाखांसाहब को महाराष्ट्र के बाहर कौन जानता था? सचमुच वे कितने विद्वान थे! किंतु गायक के रूप में उनकी लोकप्रियता कहां थी?

दरअसल अण्णासाहब की विशेषता यह थी कि उनके गायन में बुद्धि और मस्तिष्क दोनों का समन्वय था। उनका गाना महज भावात्मक नहीं था। उनके गायन में वैचारिकता और भावात्मकता दोनों का मिलाप रहता था। इसीलिए मैंने पहले कहा कि उनके गायन की कोई सुनिश्चित शक्ल पकड़ में नहीं आती थी। यहां मैं एक ही उदाहरण देता हूँ कुमार गंधर्व का। कुमारजी ने खुद कहा है कि वे अपनी तरुणाई में बड़े बड़े गवैयों की नकल उतारने में माहिर था। एक बार ग्वालियर में एक प्रसंग हुआ था। मुले साहब के यहां बैठक सजी थी। अण्णासाहब बैठे हुए थे। राजाभैया पूछवाले भी थे। राजाभैया ने कुमार से कहा, "आज नकल का प्रोग्राम हो जाए" तो कुमार ने फैयाजखां, अब्दुल अली खां... राजाभैय्याजी आदि गवैयों की हूबहू नकल उतारकर रख दी। अण्णासाहब ने कहा, "कुमार, हमारी भी नकल उतारो।" कुमार ने जवाब दिया, "ना, आपकी नकल मैं नहीं कर सकता। आपका कोई एक ढांचा है नहीं, जिसे मैं नकल में उतार सकूं।"

परवर्ती गायन

अण्णासाहब के गान-कौशल के बारे में यह भी एक अभिप्राय मिलता है कि उनका गाना उनके पूर्ववर्ती काल में जितना प्रभावशाली था उतना आगे नहीं रहा। कुछ हद तक यह बात सही है। उनका गाना शुरू शुरू में सचमुच ही अत्यंत उच्च कोटि का था। पुराने जमाने के लोगों ने इसे अनुभव किया है और वैसा लिख के रखा है। आगे उन्हें संगीत के जिस क्षेत्र में उतरना पड़ा उसके कारण उनके व्यक्तित्व में जोर मारनेवाला कलाकार दब गया। महफिलों में अपने जौहर दिखाने के स्थान पर उन्हें दूसरों के गले में अपनी कला को उतारने का काम जीवनभर करना पड़ा। बात यह है कि कलाकार जो बनता है वह प्रतिभा और उत्स्फूर्तता के

बल पर बनता है। इसीको हम 'उपज (creativity)' कहते हैं। ज्यों ज्यों आप अध्यापन के क्षेत्र में गहरे उतरते जाते हैं त्यों त्यों आपकी उपज का माद्दा मद्धिम पड़ने लगता है। इसलिए पुराने बड़े-बड़े गायक शिक्षक नहीं बनते थे। फैयाजखांसाहब ने किसीको नहीं सिखाया। सच बात तो यह है कि चूंकि अण्णासाहब पं. भातखंडेजी के पास तैयार होके आए थे, फैयाजखां ने उन्हें शागिर्द के रूप में अपना लिया और कहा कि बस मेरे साथ रहा करो, तानपूरे पर आवाज लगाया करो। मेरे सान्निध्य में रहकर तुम जितना ले सको, उतना ले लो।

इधर अल्लादियाखांसाहब की मिसाल दूसरी है। कोल्हापुर से बंबई तक उन्होंने अनेक शिष्यों को तालीम दी। शिक्षा-कार्य में ही वे ज्यादा दखल देते रहे उतना महफिलों में वे नहीं दिखाई दिए। वस्तुत: वे बहुत उच्च कोटि के गायक थे। मैंने अण्णासाहब से सुना है कि मुखड़ा सुनना हो तो अल्लादियाखां से सुनना। वे एक खास फिरत में 'उठते' थे और उसीके अंग से मुखड़ा बांधकर बड़े ठाठ के साथ सम पर हाजिर हो जाते थे। ये सब बातें हमारे गुरुवर ने ही हम शिष्यवर्ग को बताई हैं। किस गवैये में क्या खासियत है, इसे उन्होंने समझाकर बताया था और उन उन गवैयों का गाना उस दृष्टिकोण से सुनने की हिदायत दी थी।

अण्णासाहब ने उस्ताद अल्लादियाखां का गाना बंबई में खूब सुना था। बहुत सुना था। सच तो यह है कि बंबई में म्यूजिक सर्कल की योजना का आरंभ अण्णासाहब के पिताजी ने ही किया था। चौपाटी विभाग में सॉलिसिटर माड़गांवकर का बंगला था। वहां श्री नारायणराव रातंजनकरजी ने अल्लादियाखांसाहब के पांच जलसे करवाए थे। और वह भी अलग अलग समय के। सुननेवाले तीस के लगभग रहते थे। हरेक से २० या २५ रु. चंदा लिया जाता था। और सारी दक्षिणा खांसाहब को भेंट की जाती थी। एक महफिल सुबह की, एक दोपहर की, एक शाम की, एक रात की - यों पांचों महफिलें अण्णासाहब ने सुनी थीं। खांसाहब भी उन्हें बहुत चाहते थे।

अण्णासाहब ने खांसाहब के सुपुत्र मंजीखां को भी लखननऊ कान्फ्रेन्स में बुलाया था। उनकी दृष्टि बहुत व्यापक, घराने के परे थी। उन्होंने अपनी गायकी को खुद की एक शैली में ढाल दिया था। कभी लगता था कि यह आगरा घराने की शैली है, किंतु गौर से देखने पर ध्यान में आता था कि इसमें किसीकी नकल नहीं है। लेकिन एक दूसरी विशेषता उनके गायन की मैं बताना चाहूंगा। गायन की अन्यान्य शैलियों पर उनका अद्‌भुत अधिकार था। एक बार पं. नारायणराव व्यास महाराष्ट्र समाज की ओर से आयोजित गणपति समारोह के सिलसिले में लखनऊ पधारे। वहां भातखंडे कॉलेज में उनका गायन हुआ। उनके गायन के बाद अण्णासाहब बैठे। उन्होंने नारायणराव की पूरी गायकी गाकर बताई और उसके बाद अपनी गायकी का भी रंग दिखाया।

इससे भी बढ़कर एक किस्सा बतानेलायक है। महाराष्ट्र के जानेमाने गायक श्री. कागलकरबुवा रेडियो प्रोग्राम के सिलसिले में लखनऊ पहुंचे। उन दिनों व्ही.जी. जोग, एस..सी.आर. भट ये सब साथी मकान लेकर रहते थे। कोई महमान आ जाता तो उनके यहां ठहरता। फिर वहीं पर गाने की बैठक सजती। उसमें लेन-देन का सवाल था ही नहीं, प्रेम का सौदा था। कालगकरबुवा ने अण्णासाहब से कहा कि मुझे एक दिन आपका गाना सुनने की इच्छा है। वहां की घरेलू बैठकों का रिवाज यह था कि महमान आखिर में गाएगा, घर के लोग पहले गा लेंगे। अण्णासाहब ने कहा, "बुवा, मैं पहले गाऊंगा, आप आखिर में गाइए।" बुवासाहब

बोले, "नहीं, आप मुझसे बड़े हैं, मैं पहले गाऊंगा।" फिर सफेद चार में तंबूरे मिले। कागलकरबुवा ने भूपाली राग पेश किया। ऐसा जम के गाए कि समां ही बांध दिया। 'सूधे बोलत नाहीं' बंदिश उन्होंने पेश की थी। उनके गायन से वाकई सब लोग प्रभावित हुए। अण्णासाहब ने कहा कि बुवा आज आप इतना बढ़िया गाए हैं कि यहींपर हम रुक जाएंगे; मेरा गाना फिर कभी हो जाए। बुवा माने नहीं। वे जिद पकड़कर रहे। फिर अण्णासाहब बोले, "बुवा, हमारा गाना तो अध्यापकी गाना है, बेरियाजी। रहने दीजिए इस वक्त।" मगर नहीं, बुवासाहब मानने को तैयार ही नहीं! आखिर अण्णासाहब ने गुनगुना पानी और नमक मंगाकर कुल्ला कर लिया और चाय-वाय लेकर तानपूरों के बीच बैठे और शाम कल्याण गाना आरंभ किया। बीस एक मिनट शाम कल्याण हो जाने के बाद उसी स्वर में राग परज उन्होंने शुरू किया। वह परज इस कदर जमा कि कागलकरबुवा से रहा नहीं गया। उन्होंने अण्णासाहब के पैर छुए और कहा, "ऐसा गाना मैंने आज तक नहीं सुना था।" मैं भी इस घटना का साक्षी हूं। आगे चलकर बुवा अण्णासाहब के इतने भक्त हो गए कि उम्र में बड़े होने पर भी उन्होंने मुझसे अण्णासाहब की कई बंदिशें सीख लीं।

मेरा सौभाग्य रहा कि बिलकुल कोरी स्लेट लेकर मैं गुरुवर के चरणों में पहुंचा था। सिवाय नाट्यसंगीत के और कोई शैली मेरे गले पर चढ़ी नहीं थी। हां, अनुकरण-शक्ति थी तो उस हिसाब से उन्होंने मेरा गाना बनाने का प्रयास किया। उन्होंने मुझे और हम सब शिष्यों को किस तरह विद्या प्रदान की इसके संबंध में आगे हम देखने ही वाले हैं। प्रस्तुत संदर्भ दूसरा है। जब मैं उनके पास गया तब वे अक्सर कहा करते कि मेरा गाना खत्म होने के बाद तुम मेरे पास आए हो। यानी शुरू में वे गायक के रूप में जो कुछ थे उसके बाद उनकी ऊर्जा कम होने से हम शिष्यों को उनके पास जाने का अवसर मिला। उसके पहले जिन जिन लोगों ने उन्हें सुना है, उनमें से बहुतों ने उन्हें फैयाजखांसाहब के रूप में ही देखा है। कई लोगों ने उन्हें भातखंडेसाहब के मनरंग घराने के हिसाब से भी देखा है। कइयों को उनमें 'ग्वालियर' की झलक दीखती थी। लेकिन हमारे गुरुवर की जिस परिपक्व गायकी का रसग्रहण और अनुसरण हम शिष्यों ने १९३६ के बाद किया उसमें इन सभी शैलियों का एकरूप समन्वय ही हमने पाया।

गायनशैली

अण्णासाहब के गाने में सबसे महत्त्व की चीज थी, सुर का लगाव - एक वैशिष्ट्यपूर्ण स्वरात्मक रागोच्चार। राग के अनुरूप याने रागों का भाव जहां होना चाहिए था, उसके अनुरूप स्वर का लगाव करना, यह सबसे बड़ी विशेषता उनकी गायकी में थी। इसलिए कोई एक राग शुरू करते समय, वे कहीं से भी 'उठते' थे और उसी क्षण महसूस होता कि यह स्वरोच्चार बिलकुल इसी राग का है। मतलब यह कि वे स्वरों के माध्यम से रागों का उच्चार कभी नहीं करते थे, बल्कि राग के अनुसार स्वरों का प्रस्तुतीकरण करते थे।

मैंने पहले जिक्र किया था कि मेरे गुरुबंधु एस.सी.आर. भट ने मुझे दृष्टि दी थी - तो यही वह दृष्टि थी। एक कलाकार की गायकी तभी समृद्ध होती है, जब वह ४०-५० वर्ष बाद खुलने लगता है और स्वतंत्र रूप से अपना एक ढंग या ढांचा बना लेता है। तबतक वह प्रयोगात्मक मात्रा से ही गुजरता रहता है। १९३६ तक अण्णासाहब की विचारधारा पक्की हो गई थी। उसके बाद हमने उनकी गायकी में कोई परिवर्तन नहीं देखा।

बंदिशों के प्रस्तुतीकरण का भी उनका एक खास ढंग था - मैं उसे 'बनठन के साथ बंदिश प्रस्तुत करने का ढंग' कहूंगा। बंदिश का हरेक स्वर वे कणयुक्त लगाते थे। कड़े और खड़े स्वर वे नहीं लगाया करते कभी। यह खासियत उन्हें पं. भातखंडेजी की तालीम से प्राप्त थी। पंडितजी की विचारधारा का असर उनके ऊपर काफी मात्रा में रहा। इसीमें फैयाजखांसाहब की 'बोल बनाव' की शैली को स्थान मिला - बोलबनाव का अंग और लयकारीयुक्त तानें, तो आगरा घराने की खासियत थी। इस सिलसिले में मेरे अनुभव की एक विशेष बात भी बतानी चाहिए कि वे अपने गायन में अल्लादियाखांसाहब की शैली में कूटतानों का भी काफी मात्रा में प्रयोग करते थे। उनके इस विशेष पक्ष का मैंने ही खास तौर पर अनुकरण किया है, अन्य किसी शिष्य ने नहीं किया।

फिर स्वरयुक्त पुकार उनके गायन का एक और आकर्षक अलंकार था। एक ही स्वर को वे अलग अलग 'पुकारों' के साथ प्रस्तुत करते। उनके गायन में सुनकर सीखी हुई चीजें बहुत कम थीं, जो कुछ था वह तालीम से प्राप्त हुआ था। इसके बाद उनकी गायन-कला का एक दूसरा सौंदर्यपक्ष था उनका शब्दोच्चार। मैं इसे उस्तादी ढंग के शब्दोच्चार कहूंगा। पहले हमने देख ही लिया है कि ब्रजबोली वगैरह को उन्होंने ध्यानपूर्वक समझ लिया था। वे बंदिशों के शब्दों का उच्चारण खास हिंदी के लहजें मे करते थे, इससे उनके गायन के सौंदर्य में इजाफा हो जाता था। चाहे पंजाबी भाषा की बंदिश हो या हिंदी की। शब्दों के सही उच्चारण से उसकी लहक बदल जाती है। एक दिल की बात खोलकर बताने जैसा ढंग उसमें आ जाता है। उदाहरण के लिए एक चीज है - 'दैं ऽ दी अल्ला....।' उसका उच्चारण दैं दी नहीं बल्कि 'दैं' पर यत्किंचित रुककर फिर दी कहना चाहिए। एक और बंदिश राग बिहाग में है। 'हा वे चंगी बोलले तू जानूदा जिंद साड्डे नाल' 'यहाँ' शब्द में 'साड्डे' अनुनासिक उच्चारण करना नहीं है। यह तो तभी होता है जब बंदिश के अर्थ पर भी हम ध्यान दें। अण्णासाहब में यह विशेषता थी। वे शब्दार्थ को समझने पर बल देते थे।

कुल मिलाकर एक शब्द में कहना हो तो अण्णासाहब के गायन में 'गवैय्यापन' कूट कूट कर भरा था। इसीलिए उस जमाने के जानेमाने उस्ताद उन्हें अपनी बिरादरी का गवैया मानते थे। 'पंडत' तो थे ही, किंतु साथ साथ गवैयापन भी उनमें उतनी ही मात्रा में था। किंतु जैसा कि इसके पहले मैंने जिक्र किया है, शैक्षणिक कार्य को हाथ में लेने के उपरांत ये विशेषताएं कुछ कुछ मंद पड़ती गईं। उसके बाद आप महफिलों की अपेक्षा कद्रदानों और गुणीजनों की खानगी महफिलों में बेहद रंग जमाने लगे। क्योंकि ऐसे माहौल में उनके अंदर बसे हुए सच्चे कलाकार को तहेदिल से दाद मिलती थी। ग्वालियर में हर साल एक महीने की कालावधि तक परीक्षाओं के कार्य की बदौलत उनका रहना होता था। वहां राजभैय्या पूछवाले जैसे चाहनेवालों की संगत रहती और फिर आए दिन महफिलें सजतीं। पं. राजाभैया तो अण्णासाहब के गाने पर फिदा ही होते थे। उन्होंने एक बार मुझसे कहा -"हमने इतने बड़े बड़े धुरंधर गायकों को सुना है लेकिन अगर तुम मेरे मन की बात पूछोगे तो मुझे अपने जीवन में दो ही आदमियों का गाना पसंद आया - एक शंकर पंडितजी का और उसके बाद बाबूराव (अण्णासाहब) का।"

सवाल हो सकता है कि पं. राजाभैया पूछवाले तो ग्वालियर घराने के गायक थे; तब अलग शैली के इस गायन पर वे इतने कैसे रीझ गए? इसका श्रेय राजाभैयाजी की 'नजर' को देना चाहिए। यों आप तो ग्वालियर घराने के ही गायक रहे; किंतु सौंदर्य की खोज में कुछ थोड़ी

मात्रा में लीक से हट भी गए और अण्णासाहब की गायन-शैली के कायल बन गए। राजाभैयाजी को पं. भातखंडेसाहब के प्रति नितांत आदरभाव था। उन्हींके शिष्य के नाते वे अण्णासाहब की ओर देखते थे। उनकी इस बात के कारण रूढ़िप्रिय ग्वालियरवालों ने उन्हें अपनी बिरादरी से अलग घोषित कर दिया और कहने लगे कि हमारी गायकी से यह भ्रष्ट हो गया है। यों हम उन बेचारों को भी दोषी नहीं ठहरा सकते। उस जमाने में कलाकारों के अंदर इतनी विश्लेषणात्मक और गुणग्राहक दृष्टि कहां विकसित हुई थी? जिस प्रकार आज हम विश्लेषणात्मक रूप में चर्चाएं करके सार निकाल लेते हैं वैसी स्थितियां सौ-सत्तर साल पहले नहीं थीं। तो मैं जो कह रहा था उसपर आता हूं कि ग्वालियर की गुनिजन बैठकों में अण्णासाहब का गाना खूब खुलता था और ताज्जुब की बात यह कि यह उपक्रम लगभग २५ वर्ष तक बराबर चलता रहा। और जैसे कि पहले मैंने जिक्र किया था, कुमार गंधर्व जैसे कलाकार भी उसमें समय समय पर शामिल होते और उसका रंग और गहरा हो जाता।

मैं यहांतक बताना चाहूंगा कि इन प्रदीर्घ वार्षिक अनुभवों का परिणाम यह हुआ कि ग्वालियर के गायकों और रसिक श्रोताओं के,कान 'बिगड़' गए और कइयों ने इस गायकी की खूबियों का मनन चिंतन करके अपनी गायकी में परिवर्तन कर लिया। और यह मैं केवल अनुमान के तौर पर नहीं बता रहा हूं, प्रमाण भी दे सकता हूं। सर्वश्री नारायणराव गुणे (राजाभैया के शिष्य), गंगाप्रसाद पाठक, गोविंद नारायण नातू, मुकुंद विष्णु कालविंट ये सभी ग्वालियर के माधव संगीत महाविद्यालय के स्नातक थे। खुद राजाभैया के सुपुत्र बालासाहब जो आजके गायकों में मान्यता पाए हुए हैं, वे भी इस माहौल में रहते थे। और राजाभैयाजी की उदारता और सांगीतिक दृष्टि को भी देखिए कि उन्होंने खुले तौर पर इन स्नातकों को छूट दे दी थी कि यदि तुम्हें अण्णासाहब के गायन में अपने लिए अनुकूल आदर्श गुण मिलते हों तो अवश्य उनका अनुकरण कर सकते हो, मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं। किंतु इन सब बातों के बावजूद मैं यह भी बताना चाहूंगा कि राजाभैया स्वयं आखिर तक ग्वालियर की गायकी ही गाते रहे। क्योंकि मैंने राजाभैया का गायन कई बार सुना था और उसमें मैंने शंकर पंडितजी के श्यालक श्री काशिनाथ मुले के गायन की ही शक्ल पाई थी (और श्री मुले तो शंकर पंडित की ही गायकी में पले थे)। तो कहने का तात्पर्य यह कि राजाभैया ने अपनी शैली में परिवर्तन नहीं किया; किंतु विचार-शैली में अवश्य किया। यों कहिए कि अण्णासाहब की प्रभावपूर्ण गायकी ने वैसा करने पर उन्हें बाध्य किया।

राजाभैया बातों बातों के सिलसिलें में बताया करते - "हमारे जमाने में पूरिया, मारवा, सोहनी एक ही ढंग से गाया जाता था। उनमें होनेवाले अंतर को हम अंदरूनी तौर पर समझ ही नहीं पाते थे। मारवा का विशेष अंग कहां है, पूरिया कहां खुलता है, सोहनी में किस स्वरसंगति की जरूरत रहती है - यह सारा सूक्ष्म ज्ञान मुझे पं. भातखंडेजी की संगति में आने पर प्राप्त हुआ। जैसे 'सपने में आए' बंदिश लीजिए। राग पूरिया की इस बंदिश में स्वरों का चलन कैसा है - ये सारी बारीकियां अपने आप खुलने लगीं। तो इस 'नजर' से भरे हुए गायन के संस्कार भातखंडे और बाद में अण्णासाहब की बदौलत ग्वालियर के जिज्ञासु संगीतसाधकों को प्राप्त होते रहे और उनके कान बदल गए। राजाभैया ने मुझसे कई बार कहा था - "भातखंडेजी की संगति में मेरा गाना चक्षुमय हो गया।"

ग्वालियर में श्री बालाभाऊ उमड़ेकर नाम के गायक थे, जो कानों में कुंडल के कारण 'कुंडल गुरु' कहलाते थे। वह भी अण्णासाहब की गायकी से बहुत प्रभावित थे। याने ग्वालियर के

लोग हमेशा राह देखते थे कि बाबूरावजी यहां परीक्षक के नाते कब पधारनेवाले हैं! कुछ लोगों को मैंने यह कहते हुए भी सुना है कि उनके आने पर हमारा संगीत का यज्ञ शुरू हो जाता है।

अण्णासाहब का ग्वालियर जाने का सिलसिला १९३३ के बाद जारी हो गया। उसके पूर्व परीक्षाओं के लिए बड़ौदा, ग्वालियर, लखनऊ को स्वयं पं. भातखंडेजी ही जाया करते थे। परंतु १९३३ में लकवे की बीमारी से पंडितजी स्थानबद्ध ही हो गए, तो यह काम अण्णासाहब के जिम्मे आया। बड़ौदा में भी अण्णासाहब के अनुभव काफी रोचक रहे। श्री पंढरीनाथ कोल्हापुरे वहीं पर सीखते थे उस काल में। उनके पिता कृष्णराव कोल्हापुरे (गानसम्राज्ञी लता मंगेशकर के मामा) बड़ौदा की संगीत पाठशाला में बीन - वादन के अध्यापक थे। पंढरीनाथजी के मन में अण्णासाहब की वहां की बैठकों का स्मरण आज भी ताजा है।

लय प्रभुत्व

स्वरलगाव, शब्दोच्चारण आदि के साथ साथ अण्णासाहब का लयतत्त्व पर भी उतना ही अधिकार था। हम उनकी रची हुई बंदिशों में लय का सौंदर्य अनुभव कर सकते हैं। लय की समझ उनमें न होती तो इतनी बंदिशें बन ही न सकतीं। वे बंदिशों का प्रस्तुतीकरण लयात्मक शैली में ही करते थे। झिंझोटी राग की उनकी बंदिश 'मेरो मन सखी हर लीनो सांवरिया ने' तो लयकारी की सूझ से ओतप्रोत भरी हुई है। कहने का तात्पर्य यह कि सुर, शब्द और लय तीनों का अच्छा समन्वय उनके गायन में मिलता था। पिछले अध्याय में मैंने अच्छन महाराज और मोहनराव की घटना बताई ही है। यदि अण्णासाहब लय का सूक्ष्म ज्ञान न रखते तो अच्छन महाराज को भी अप्रतिभ करनेवाला सवाल न कर पाते। हां, यह मैं अवश्य कहूंगा कि यदि गायक के नाते नाम कमाने का अवसर उन्हें मिलता तो उनकी लयकारी के जौहर अच्छी तरह खुलते। किंतु गुरु के आदेश से वे संगीत के प्रसार में ही दत्तचित्त रहे। कॉलेज के दायित्व को संपूर्ण शक्ति के साथ निभाने के दौरान उन्होंने एक तरह से अपना गायकपन त्याग दिया था।

परंतु यह मैं अवश्य बल के साथ कहूंगा कि उन्होंने अपने शिष्यों में लय भर दी थी। उनका गायन निरंतर सुनते हुए मैंने तो उनका यह पक्ष अनुकरण से अच्छी तरह आत्मसात् कर लिया है। मेरा तो कोई दूसरा गुरु नहीं है, मेरे वे ही एकमेव गुरु रहे। जो लयात्मक प्रक्रिया मेरे गायन में विकसित हुई है वह उन्हींका प्रसाद है। उसका बीज उन्होंने ही बोया और उसे मैंने बढ़ाया। इसलिए वे मुझे हमेशा कहते थे कि मेरी बंदिशों को तुम्हीं समझ सकते हो। खैर, उनकी बंदिशों के बारे में और उनके सिखाने के ढंग के बारे में हमें आगे बात करनी है; परंतु यहां संदर्भ की एक बात कुछ विस्तार से बताना आवश्यक है। अण्णासाहब ने कुछ चुने हुए शिष्यों को इस ढंग से तैयार किया था कि जरूरत पड़ने पर किसी भी घराने की गायकी में वे अपने को ढाल सकते थे। इसलिए मैं ग्वालियर शैली में भी आसानी से घूम सकता था। और जब जब मौका मिलता पं. गजाननबुवा जोशीजी के पीछे तंबूरे पर गा लेता था। एक बार दिल्ली आकाशवाणी पर बुवासाहब का राष्ट्रीय कार्यक्रम था। मुझे कहा गया कि 'वोकल सपोर्ट' के लिए आपको बुक करना है। मैंने कहा, मेरी एक शर्त है, मैं सिर्फ तंबूरा बजाने के लिए नहीं बैठूंगा, मैं उनके साथ गाऊंगा भी। उस दिन बुवासाहब की आवाज तकलीफ दे रही थी, उन्हें बीच बीच में विश्राम की जरूरत थी। मैंने राग केदार में ग्वालियर की शैली

में ही बुवासाहब का साथ दिया। श्रोताओं में डॉ. केसकर, सरदार आबासाहब मुजुमदार जैसे ऊंचे श्रोतागण बैठे थे, किंतु मैं पूरे आत्मविश्वास के साथ सहगायन करता रहा। हमारे गुरु ने हमें इस तरह व्यापक दृष्टि दे दी थी।

यह भी देखना चाहिए कि अण्णासाहब गायन में लय को कितनी हद तक विलंबित रखते थे?

अब उस जमाने में लय जो चलती थी उसके दो धागे थे। पुरानी पीढ़ी के जितने भी गवैये थे, बहुत विलंबित लय रखते ही नहीं थे, चलती लय या मध्यविलंबित लय रखते थे। तबलची को मात्रा भरने की जरूरत न पड़े, इस ढंग की लय रहती थी। फैयाजखांसाहब, विलायतहुसेनखां सब इसी लय में गानेवाले गायक थे। अल्लादियाखांसाहब का गाना मैंने नहीं सुना, लेकिन केसरबाई को खूब सुना है। मल्लिकार्जुनजी को आज भी सुन रहा हूं। ये सभी चलती लय में गानेवाले गायक ही रहे हैं। ऐसी लय में आप को ठेके का छंद दीखता है और उसके आधार पर बंदिशों की लयात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है। आजकल हम अनेक महफिलों में देखते हैं कि लय एक चौथाई घटा दी जाती है। ऐसे गायन में सिर्फ मात्राएं गाई जाती हैं। गानेवाला सिर्फ मुखड़े का देनदार हो जाता है। अण्णासाहब विलंबित मध्यलय में अपना गाना प्रस्तुत करते थे। अतिविलंबित लय उन्होंने कभी भी नहीं ली। लय के संबंध में उनका एक और बात पर बराबर ध्यान रहता था। हरेक बंदिश की अपनी एक लय रहती है। अण्णासाहब हमेशा उस लय का खयाल रखके गाते थे। हरेक स्वर का अपना एक आयाम होता है, एक विश्रांति उसमें स्वयमेव अनुस्यूत रहती है। उसीके सहारे संगीत के माध्यम से हम रागात्मक संवेदनाएं श्रोताओं तक पहुंचाते हैं। बंदिश की लय का और इस संवेदना का घनिष्ठ संबंध रहता है। अण्णासाहब अपने गायन में लय के इस स्वरूप पर अमल करते थे।

अण्णासाहब उनके गायन में स्वरालाप, बोल उपज, नोम्-तोम् में से किस पहलू को अधिक प्राधान्य रहता था और ख्याल के विस्तार की उनकी क्या पद्धति थी, यह भी एक विचारणीय बात होगी। इस संबंध में कहें तो आगरे की शैली के हिसाब से ख्याल के आरंभ में वे नोम्-तोम् आलाप करते थे। आकाशवाणी पर गायन होता तो उसमें भी आधे घंटे के ख्याल में पहले ५-१० मिनट वे नोम्-तोम् के आलाप लेते थे। बड़ी महफिलों में इस आलापी के लिए वे और ज्यादा समय देते थे। इस आलापी के बाद जो ख्याल शुरू हो जाता था वह मध्यलय में रहता था, विलंबित में नहीं। अब आगे ख्याल का विस्तार बंदिश के अनुरूप शुरू हो जाता था। ख्याल का विस्तार स्वर-दर-स्वर करने की अपेक्षा बोल के हिसाब से करना उनकी खासियत थी। बंदिश के अक्षरों के दायरे से विस्तार करते समय उसमें आगरा शैली और ग्वालियर शैली दोनों का सुंदर मिलाप बन आता था। उसमें बीच बीच में आकारयुक्त आलापों का भी प्रयोग होता था। ग्वालियर गायकी के बहलावे भी उनके गायन के सौंदर्य को बढ़ा देते थे। एक बार बंदिश को भलीभांति प्रस्थापित कर देने के बाद उसे नाना प्रकार से अलंकृत करके उसके भीतरी सौंदर्य के एक एक पहलू को उजागर करते हुए चलते थे। तो इस प्रक्रिया में अमुक के बाद अमुक तरीका, ऐसा कोई हिसाबी चक्र उनके गायन में नहीं रहता था, इसीलिए तो उनके गायन में अद्भुतता और अनोखेपन का अनुभव श्रोताओं को पग पग पर मिलता।

धातु एवं मातु

जैसा कि मैंने पहले बताया अण्णासाहब बंदिश के साहित्य पक्ष को भी नजरअंदाज नहीं

होने देते थे। उस जमाने में प्राय: गायक लोग बंदिश के भावपक्ष, उसके सही शब्दोच्चारण, अर्थ आदि अंगों की ओर उपेक्षा की नजरों से ही देखा करते थे। शायद उसका एक कारण यह भी रहता होगा कि उन्हें स्वयं बंदिश का काव्यार्थ ज्ञात ही नहीं रहता था; यही नहीं स्थायी और अंतरे के शब्द भी उन्हें ठीक ठीक मालूम नहीं रहते थे। धातु पक्ष पर ही सारा बल देते थे, मातु पक्ष की एक तरह से अवहेलना ही होती थी। अण्णासाहब की अत्यंत सराहनीय विशेषता यह थी कि उनके गायन में धातु और मातु दोनों पक्षों को समुचित न्याय मिलता था। हम इसका पहले जिक्र कर ही चुके हैं कि फैयाजखांसाहब की सन्निधि में रहने, लखनौ जैसे हिंदी भाषी प्रदेश में वास्तव्य होने और हिंदी की ब्रज, अवधि इत्यादि बोलियों और उर्दू भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने की वजह से बंदिशों के भाषा पक्ष के प्रति वे स्वभावत: ही जागृत रहते। इसके अतिरिक्त स्वयं एक उत्तम श्रेणी के रचनाकार भी थे। तो बात यह कि अण्णासाहब के गायन की इस खासियत के कारण उस काल के सुशिक्षित श्रोतागण उनकी ओर विशेष आकृष्ट रहते थे। अन्य गायकों की तुलना में इस गायन में उन्हें साहित्य का भी आनंद मिलता था। इस बारे में गौर करने की बात यह है कि अण्णासाहब आजकल की तरह एकदम भावविभोर होकर के गानेवाले गायक नहीं थे। उनकी कला की विशेषता यह भी थी कि उसमें कलात्मक संयम की याने अभिजातता की गरिमा भरी हुई थी। वे राग के 'मूड' को शिथिल नहीं होने देते थे। वे साहित्यिक रस को प्राधान्य देकर नहीं, बल्कि संगीतरस को प्राधान्य देकर गानेवाले गायक थे। फिर यह पूछा जा सकता है कि ठुमरी के संबंध में उनके भाव क्या थे? उस जमाने में प्राय: ख्याल गायक ठुमरी गाने के पक्ष में रहते ही नहीं थे। आज स्थितियां ऐसी हैं कि आपको एक ही महफिल में सब कुछ प्रस्तुत करना आना चाहिए। उस कालखंड में श्रोता वैसी अपेक्षा ही नहीं रखते थे। हां, लेकिन महाराष्ट्र में यह पद्धति कुछ हद तक रही। किंतु महाराष्ट्र के बाहर ख्यालगायक अपनी लीक से हटकर दूसरे दूसरे प्रकारों को नहीं अपनाते थे। आगरा घराने में सिर्फ फैयाजखांसाहब ही ठुमरी गाते थे। क्योंकि उन्हें मोइजुद्दीनखां और गणपतभैया से तालीम मिली थी। आगरा घराने में किसीने उन्हें ठुमरी नहीं सिखाई। इसलिए नसिरुद्दीखां, विलायतहुसेन खां, नत्थनखां - कोई भी ठुमरी गायन नहीं करते थे। पं. भास्करबुवा बखले को महफिलों में मराठी नाटक पद गाने का आग्रह होता था, लेकिन वे कहते थे– "यह नारायण का (याने बालगंधर्व का) काम है।" हां, यह ठीक है कि नाट्यगीतों के प्रचार के कारण महाराष्ट्र में महफिलों के अंदर भी नाट्यगीत प्रस्तुत करने की प्रथा चल पड़ी थी। किंतु इसे नहीं भूलना चाहिए कि इन पदों को गानेवाले गायक शास्त्रीय संगीत में गहरी तालीम पाए हुए कलाकार थे।

उत्तर भारत में स्थितियां भिन्न थीं। वहां ठुमरियां गाने के लिए एक से एक बढ़कर बेहतरीन गायिकाएं थीं - सिद्धेश्वरीजी, रसूलनबाई, विद्याधरीदेवीजी। फिर भी महफिलों में बंदिश की ठुमरी जरूर गाई जाती थी। मसलन, 'नीर भरन कैसे जाऊं' यह ठुमरी है। किंतु उसे बंदिश के हिसाब से भी पेश किया जाता था। तो पते की बात यह कि आजकल आम महफिल में बोल बनाव की ठुमरी गाने की जो प्रथा मिलती है, वैसी स्थिति अण्णासाहब के जमाने में नहीं थी। इस संदर्भ में यह बताना चाहिए कि अण्णासाहब को विपुल-सी ठुमरियों और टप्पों की घरानेदार तालीम सुविख्यात ठुमरी नायक कदर मिया के सुपुत्र लखनऊ निवासी नवाब चौलक्खी मिर्जा नूर उद दहर जैसे अधिकारी उस्तादों से मिली थी। यों खानगी महफिलों में फरमाइश होने पर एकाध बार ठुमरी गा भी देते थे, किंतु ख्याल और ध्रुपद धमार ही उनका

वास्तविक क्षेत्र था।

ध्रुपद धमार के गायन पर अण्णासाहब का गहरा अधिकार था। ख्याल से ध्रुपद कहां अलग पडता है, धमार की उपज किस तरह होती है, इसके बारेमें सूक्ष्म दृष्टि उन्होंने हम शिष्योंको और खासकर मुझे और भटसाहब को दी। यों हमारे पाठ्यक्रम में ही ध्रुपद और धमार का अंतर्भाव था। जब हमारा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम शुरू हुआ तब एक एक गायकी की विशेषताओं को विस्तार के साथ सिखाया गया। उस्ताद रहीमुद्दिनखां डागर को ३-४ साल लखनऊ कॉलेज में अध्यापक के रूप में रखा भी गया था।

डॉ. बी. वी. केसकरजी की ख्वाहिश थी कि ध्रुपद धमार गायकी को पुनरुज्जीवित किया जाए। इसके लिए वे आकाशवाणी पर उसका महत्त्व बढ़ाना चाहते थे। इस दृष्टि से डागर बंधुओं को उन्होंने प्रोत्साहन दिया था। इसीके साथ वह यह भी जानते थे कि रातंजनकरजी भी इस दिशा में कुछ करा सकते हैं। तो उन्होंने हमारे गुरुदेव के द्वारा मुझे और श्रीमान भट को ध्रुपद में तैयार करवाया। फिर हमने भी उसमें अधिक ध्यान देना आरंभ किया। आगे चलकर हमने उसमें भी अपनी एक शैली बना ली। किंतु इस सफलता के पीछे अण्णासाहब का ही मार्गदर्शन था। उन्होंने काफी पहले डेढ़ साल तक भैरव के नोम्-तोम् की शिक्षा देने के उपरांत हमे उसी राग में 'विष्णुचरण ब्रह्मकमंडल' ध्रुपद सिखाया था। जो स्वर-लगाव हमें अण्णासाहब ने सिखाए थे उसीसे हमने अपने नोम् तोम् आलाप की प्रक्रिया शुरू की। इसलिए हमारे नोम् तोम् में आपको आगरा शैली के नोम्-तोम् आलाप नहीं दिखेंगे, उसमें आप ध्रुपदियों के नोम्-तोम् आलाप पाएंगे।

अण्णासाहब भी जो नोम्-तोम् करते थे उसमें ध्रुपद अंग ही ज्यादा रहता था। उन्होंने उ. जाकिरुद्दीन अल्ला बंदे को काफी सुना था। पं. भातखंडे स्वयं जाकिरुद्दीन साहब से बहुत प्रभावित थे। खांसाहब अपनी आलापी के लिए बहुत मान्यता पाए हुए थे। इसलिए लोग उन्हें जाकिरुद्दीन ध्रुपदिए नहीं, जाकिरुद्दीन अलापिए कहकर पहचानते थे। इस प्रकार अण्णासाहब ने ध्रुपद धमार की प्रस्तुति की दृष्टि से हमारी प्राथमिक तैयारी करा ली थी और उसीको फिर हमने आगे विकसित रूप दिया। गुरुवर की यही विशेषता थी कि वे शिष्यों को केवल अनुकरण में बांधकर नहीं रखते थे, वे 'दृष्टि' प्रदान करते थे; सूत्र रूप में हिदायतें देकर और मुख्यत: अपने गायन के माध्यम से।

अण्णासाहब के सांगीतिक व्यक्तित्व का अबतक जो अवलोकन किया, उसमें दो महत्त्वपूर्ण आयामों पर ध्यान नहीं दिया गया। - (१) रचनाकार तथा वाग्गेयकार और (२) विद्यागुरु। वस्तुत: उनके व्यक्तित्व के ये दो पक्ष इतने बुलंद हैं कि परवर्ती काल में उनके 'गवैयेपन' की अपेक्षा इन्हींपर सबका ध्यान आकर्षित हुआ। गुरुमहोदय की ये दो विशेषताएं इतनी परिग्राही और व्यापक हैं कि उसके लिए दो अलग अध्यायों की आवश्यकता है।

आइए, हम वही करें!